सत्ता विमर्श एवं दलित विमर्श

डॉ0 यशवन्त वीरोदय,

हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,
डॉ0 शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय,
लखनऊ

विमर्श शब्द अंग्रेजी के 'Discourse के अनुवाद के रूप में हिन्दी में प्रचलित है। 'विमर्श' अथवा 'प्रोक्तियाँ' बड़े ही कौशल के साथ बहुत बड़े जनसमुदाय को तत्काल प्रभावित करने की शक्ति रखती है और बड़ी सीमा तक 'शक्तिस्त्रोत' एवं शक्ति–संतुलन का कार्य करती है। किसी भी प्रकार का विमर्श या तो स्थापित शक्ति–संतुलन अथवा 'शक्ति–संतुलन का कार्य करती है। किसी भी प्रकार का विमर्श या तो स्थापित शक्ति–संतुलन अथवा 'सत्ता–संतुलन' को विचलित करता है या उसे मजबूत और दृढ़ बनाता है। विमर्श का उपयोग या प्रोक्तियों का प्रयोग विशेष प्रकार के सांस्कृतिक राजनीतिक आग्रहों की स्थापना पुष्टि और औचित्यपरकता के लिए होता है।

पष्चिम के विचारकों ने विमर्श (Discourse) का प्रयोग ऐसे सुचिन्तित–वैचारिक निष्कर्षों के संदर्भ में किया है जो दूसरे लोगों या समाजों को उसे निष्कर्ष के संदर्भ में किया है जो दूसरे लोगों या समाजों को उस निष्कर्ष के अनुसार सोचने काम करने और व्यवहार करने के लिए मानसिक दृष्टि से निर्भर बना देता है। इस अर्थ में विमर्श का प्रयोग राजनैतिक–कूटनीतिक और चालाकी भरा भी हो सकता है। 'मिशेल फूको' ने इसका एक बड़ा ही सटीक उदाहरण दिया है– वह यह कि पूरी दुनिया में आर्थिक–राजनैतिक कोटि के रूप में मान्य–

Developed and developing Nation Theory
(विकसित एवं विकासशील देश का सिद्धान्त)

यह विमर्श किसी सिद्धान्त पर आधारित न होकर पष्चिमी देशों द्वारा अपनी संप्रभुता स्वीकार करवाने के लिए विकसित किया गया एक तर्कजाल है और इस तर्कजाल में दुनियाँ (तीसरी दुनियाँ) के लगभग सारे देश फँस गए हैं। दुनियाँ के सारे विकासशील देश विकसित देश बनने के लिए प्रयत्नशील है और इसी कारण उनकी आर्थिक नीतियों का समर्थन कर रहे हैं। जब तक विकासशील देश उनकी नीतियों का समर्थन करते हुए विकसित होने में सफल होंगे तब तक विकसित राष्ट्र कहाँ पहुँच चुके होंगे ये उन्हें पता नहीं है। यदि विकासशील देश विकसित हो भी जाते हैं तब भी असमानता का स्तर तो वही रहेगा।

इसको एक दूसरे उदाहरण में यूँ समझा जा सकता है– जैसा कि पिछले 11 सितम्बर, 2001 को अमरीका के वर्ड ट्रेड सेन्टर पर हुए आक्रमण के बाद राष्ट्रपति जार्ज डब्लू बुश एवं ब्रिटेन के प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर का अपने बयानों में यह कहना कि–

"The Attack on US is Attack on Civilization."

अमेरिका पर आक्रमण सभ्यता पर आक्रमण है।''

वरिष्ठ चिन्तक प्रो0 सत्य प्रकाश मिश्र के अनुसार यह वाक्य एक खतरनाक विमर्श है, जो बाद में धीरे–धीरे अनेक देशों द्वारा स्वीकृत हुआ और कहा गया। बिना यह सोचें समझे कि इस वाक्य के माध्यम से राष्ट्रपति जार्ज बुश और ब्रिटानी प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर कितने लोगों को असत्य

भी बता रहे हैं, अथवा यह कि सभ्यता संस्कृति का प्रमाण अमेरिका है इसलिए अमेरिका पर आक्रमण सभ्यता और संस्कृति पर आक्रमण है और इराक, भारत आदि पर आक्रमण सभ्यता एवं संस्कृति पर आक्रमण नहीं है'', इस प्रकार के विमर्श न सिर्फ खतरनाक है बल्कि समता स्वतंत्रता एवं बन्धुत्व की मूल भावना के खिलाफ है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूंजीवादी ताकतों ने अपने वर्गहितों को ध्यान में रखते हुए इन विमर्शों को जन्म दिया। यदि हम भारतीय संदर्भ में बात करें तो यहाँ की वर्णव्यवस्थावादी ताकतों या इस व्यवस्था के जनक ब्राम्हणों ने भी कुछ विमर्शों को जन्म दिया। वर्ण पोषकों ने इतिहास गाथाएँ भी अपने आग्रह से रचे तथा असामनता की सनातन या अपरिवर्तनीय बनाने के लिए पुरजोर प्रयास किया।

आधुनिक समय में अंबेडकरवादी या समतावादी विमर्श के समक्ष जो चुनौतियों है। उन चुनौतियों का सही मुकाबला करने के लिए सबसे पहले यह जानना जरूरी है कि 'वर्ण व्यवस्थावादी विमर्श' को समझ जायेंगे तभी इसके विकल्प को प्रस्तुत करते हुए व्यवस्थावादी चुनौतियों का सामना कर पायेंगे। प्रसिद्ध दलित चिंतक चन्द्रभान प्रसाद की मान्यता है कि 'लगभग हर धर्म–दर्शन में सृष्टि एवं मानव की उत्पत्ति के सिद्धान्त की व्याख्या है। पर 'हिन्दू–धर्म–दर्शन' मात्र एक ऐसा दर्शन है जिसमें मानव की उत्पत्ति नहीं, बल्कि मानव वर्गों के उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार वर्ण पोषकों द्वारा पहले खतरनाक विमर्श की नींव पड़ी जिसे ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरूष सूक्त में देखा जा सकता है–

ब्राम्हाणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः उरूतदस्य यद् वैष्यः पादोभ्याम् शूद्रों अजायत।

(ऋग्वेद मंडल 10, पुरूष सूक्त 190 ऋषि–नारायण)

यह वर्णों की जन्मजात गैर–बराबरी का सिद्धान्त है। प्रष्न उठता है कि इस प्रकार के सिद्धान्त क्यों गढ़े जाते हैं? शायद अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए। चूंकि मानव अंग जन्म से ही शरीर रचना में एक स्थान पर निष्चित होते है। अतः वर्णों की तुलना मानव अंगों से कर के वर्णों की गैर बराबरी की जन्मजात एवं चिरस्थायी बना दिया गया है।

प्रसिद्ध दलित चिंतक माननीय चन्द्रभान प्रसाद के अनुसार ''गैर–बराबरी हर सभ्यताओं में रही हैं, पर उत्पत्ति के इस सिद्धान्त में जन्मजात बैर–बराबरी सिद्धान्त को ईष्वर की इच्छा बताकर इस सिद्धान्त को धार्मिक पवित्रता का जामा पहना दिया गया। दुनिया की समस्त सभ्यताओं में मानव–निर्मित गैर–बराबरी को मानव ने ही लड़ा है पर ईष्वर के विरूद्ध लड़ाई के उदाहरण कम ही मिलते हैं ब्राम्हणवाद की सबसे बड़ी शक्ति यही रही है क्योंकि इस व्यवस्था के चलते गैर–बराबरी को ईष्वर–सृजित करार दे दिया गया। गैर–बराबरी समाज व्यवस्था से पीड़ित वर्ग में चेतना में, यह भी भर दिया गया कि यह व्यवस्था ईष्वर की इच्छा है अतः इससे लड़ने का अर्थ हुआ ईष्वर से लड़ना'' यही शाष्वत या सनातनवाद यथास्थितिवाद शक्तियों का सबसे घातक अस्त्र है अर्थात्–ऐसा होता था, ऐसा होता है और ऐसा होता रहेगा।

यह भी एक खतरनाक विमर्श का ही रूप है जिसका प्रयोग 'शक्ति–संपन्न' वर्णव्यवस्थावादी वर्ग ने अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए तथा अपने को को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए किया। इस प्रकार के विमर्श समता स्वतंत्रता एवं बन्धुत्व की मूलभावना के खिलाफ होते हैं क्योंकि इन विमर्शों अथवा प्रोक्तियों का प्रयोग वे विशेष प्रकार की सांस्कृतिक–राजनैतिक आग्रहों की स्थापना और उसकी पुष्टि के लिए करते हैं। इस प्रकार के विमर्श अपनी प्रभुता स्वीकार करवाने के लिए विकसित किये जाते हैं।

इसी तरह का एक खतरनाक विमर्श 'आर्य जाति का सिद्धान्त' उभरकर सामने आया। अंग्रेजों ने अठारहवीं सदी के आखिरी हिस्से में 'ओरियंटलिज्म' और 'इंडोलॉजी' की आधारशिला रखकर इस विमर्श को हवा देने का भी काम किया जिससे कि भारतीय शासकों के कुछ वर्ग को अपने साथ मिलाया जा सके। इसमें विदेशी और देशी शासकों का साझा स्वार्थ था। प्रसिद्ध जनवादी चिंतक ''ब्रजरंजन मणि' के अनुसार ''पुरोहित, कुलीन और नवसंपन्न वर्ग ने यह साफ देख लिया था कि अंग्रेजी शिक्षा से वे औपनिवेशिक शासन में अपनी 'भागीदारी सुरक्षित कर अपनी सामाजिक–आर्थिक हैसियत बढ़ा सकते है। अंग्रेजों को एक देशी सहयोगी वर्ग चाहिए ही था, आर्य जाति के इस सिद्धान्त ने साझे स्वार्थ की पीठिका तैयार कर दी,'' इस काम को अंजाम देने में एशियाटिक सोसाइटी के कई दिग्गज विद्वान लगे हुए थे जिन्होंने अपने हितों के लिए इस कूटनीतिक विमर्श को जन्म दिया। बकौल ब्रजरंजन मणि ''एशियाटिक सोसाइटी के दिग्गज, प्राच्यविदों–विलियम जोन्स, चार्ल्स विल्किन्स, जेम्स–प्रिसेंप ने आर्य जाति के सिद्धान्त का मजबूत करने के लिए किया। एच0एच0 विल्सन, सी लासेन, मोनियर विलयम्स एच0टी0 कोलब्रूक और सबसे बढ़कर मैक्समूलर (जो अपने को आर्य भारतीयों से जोड़ते हुए मोक्षमूल कहता था) जैसे यूरोपीय विद्वानों ने भारतीय समाज और संस्कृति का अध्ययन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर शुरू किया। बहुत गहराई से देखने और मैक्समूलर से मिलन के बाद विवेकानन्द इस नतीजे पर पहुंचे थे कि वेदों के लिए समर्पित यह विद्वान वस्तुतः शंकराचार्य का अवतार है (विवेकानन्द 1965–खण्ड–6पृ0–495)''।

इस आर्य जाति के सिद्धान्त ने और देशी–विदेशी शासकों के साझे–स्वार्थ ने कई विमर्शों को जन्म दिया उनमें से एक महत्वपूर्ण विमर्श है–

''ब्रम्हणीय जीवन दृष्टि ही भारतीयता है''

इस विमर्श का सबसे खतरनाक पहलू यह है कि जो व्यक्ति या समुदाय ब्राम्हणीय जीवन दृष्टि को नहीं मानता उसकी भारतीयता पर ही प्रष्न चिन्ह लग जाता है। इस प्रकार का विमर्श सत्ता बनाये रखने के लिए तो सही हो सकता है लेकिन राष्ट्रीय हित की दृष्टि से न सिर्फ खतरनाक है बल्कि अलगाववादी है। सवाल यह है कि जिसे हम ''भारतीयता संस्कृति'' कहते हैं क्या वह कोई जड़ या स्थिर वस्तु है, जिसका एक सनातन शाष्वत रूप है अथवा वह एक गतिशील वास्तविकता है। इन सवालों से निपटे बिना सही विमर्श की दिशा तय नहीं हो पायेगी।

प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिंतक मा0 शिवकुमार मिश्र अपनी पुस्तक ''भक्ति–आन्दोलन और भक्तिकाव्य'' में लिखते हैं– यह तथ्य इतिहास प्रसिद्ध है कि भारत में आर्यों से पूर्व भी एक अत्यंत समुन्नत सभ्यता तथा संस्कृति विद्यमान थी, जिसके न केवल तमाम भग्नावशेष हमें प्राप्त होते हैं, परवर्ती संस्कृति पर जिसके गहरे निशान भी विद्यमान हैं। इस पूर्ववर्ती सिन्धुघाटी सभ्यता संस्कृति की ढूह पर ही भारत में वैदिक आर्य संस्कृति विकसित और पुष्ट होती है।

इसके उपरान्त वैदिक संस्कृति के समानान्तर बौद्ध और जैन अपनी विचार संपदा को लेकर इस चली आ रही सांस्कृतिक पूंजी में इजाफा करते है। अब प्रष्न उठता है कि क्या सिर्फ ब्राम्हणीय जीवन दृष्टि ही भारतीयता है? क्या ब्राम्हणीय जीवन दृष्टि के प्रतिरोध में विकसित बौद्ध और जैन जीवन दृष्टिँ भारतीय नहीं है? क्या समता स्वतंत्रता एवं बन्धुत्व की दृष्टि भारतीय नहीं है? निःसंदेह भारतीयता एक बड़ी अवधारणा है जिसमें सभी प्रकार की जीवन–दृष्टियों का समावेश है जिसकी इस वर्णव्यवस्थावादी 'विमर्श' में उपेक्षा की गयी है।

इस 'विमर्श' की अगली कड़ी में 'वेदान्त' को 'शुद्ध भारतीय दर्शन' के रूप में परोसा गया

है। 'वेदान्त' के दर्श की सार क्या है? यह भी देखने की जरूरत है। बकौल ब्रजरंजन मणि 'वेदान्त' का सामाजिक सार है कि आज का तुम्हारा जो जीवन है वह पले के कर्मों का फल है, इसलिए बुरा है या भला है, चुपचाप सहन करो, विरोध करने से कुछ नहीं होगा। वेदान्त के सबसे बड़े अखाड़ेबाज 'शंकराचार्य' ने 'विवेक चूड़ामणि' में साफ–साफ कहा है–

'सहनम् सर्वदुःखनाम् अप्रतिकारपूर्वकम्'

यानी प्रतिकार किए बिना सब दुःख सहन करो, यही सबसे बड़ा सद्गुण है। इस दर्शन को गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मां फलेसु कदाचन'– 'कर्म करो, फल की चिंता हम पर छोड़ा' – आध्यात्मिकता का परम शिखर बताया गया। सामाजिक गुलामी के इस शास्त्रीय दस्तावेज को महज धर्म ही नहीं, जीवन पद्धति (Way of Life) माना गया।''

अंग्रेजों की 'आर्य जाति के सिद्धान्त' की कूटनीति देश के कुलीन वर्ग को बहुत अच्छी लग रही थी क्योंकि ''एक तरफ आर्य–सिद्धान्त'' उन्हें अंग्रेज बहादुर से जोड़ता था और दूसरी ओर दलितों और निम्नजातियों पर श्रेष्ठता की परम्परा को भी मजबूत करता था'' अपने सनातन एवं रूढ़ब्राम्हणवादी विरोधियों को चुप कराने के लिए राजा राम मोहनराय ने स्पष्ट किया कि ''अंग्रेजों के साथ मिलकर वे जो सुधार आन्दोलन चला रहे हैं उसका उद्देष्य ब्राम्हणवाद को कमजोर करने का नहीं, बल्कि इसे नवजीवन और पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए है (एस0आर0 मेहरोत्रा–1971, पृ0–2)

राणाडे जैसे प्रगतिशील राष्ट्रवादी ने राष्ट्रीय रानीतिक एकता विकसित करने का सिद्धान्त सामने रखा और कहा कि भारत में शुद्ध आर्यों की सारी दुर्गति और बुराइयां सतीप्रथा, बहु विवाह प्रथा आदि निम्न जातियाँ विशेषकर दक्षिण भारतीय द्रविणों के कुप्रभाव में आयी है। केशाचन्द्र सेन अंग्रेजों और आर्य भारतीयों को दो बिछुड़े भाईयों को मिलन बतलाकर भाव बिह्वल हो रहे थे''। विवेकानन्द की मान्यता यह थी कि ''जाति अगर नहीं होती तो राष्ट्र के रूप में हम जीवित नहीं रहते''। जोगेन्द्र नाथ भट्टाचार्य ने 1896 में प्रकाशित हिन्दू कास्ट्स एण्ड सेक्ट्स में दिखलाया कि 'वर्ण व्यवस्था राज्य निर्माण के लिए कल ही नहीं आज भी अति आवष्यक है इस किताब में चातुर्वण्य के लिए मेटाकर हैं, 'गोल्डेन चेन' जिसे हमने अपने गले में खुद डाला है।''

इस प्रकार साम्राज्यवादी सत्तावादी ताकतों द्वारा जिन 'विमर्शों' को जन्म दिया जाता है वे सर्फ असमानता एवं शोषण का सृजन करती है। इस प्रकार के विमर्श दूसरे को नीचा दिखाने के लिए 'तर्कजाल' के रूप में प्रयुक्त होते हैं जिसके माध्यम से विदेशी औपनिवेशक शक्तियों या भारतीय वर्ण व्यवस्थावादी शक्तियाँ अपने वर्चस्व को बनाये रखने का काम करती हैं। इस वर्चस्व को बनाए रखने के लिए ये शक्तियाँ ऐसे 'विमर्शों' का प्रयोग करती है जो वर्चस्व के समाजाशास्त्र को गढ़ सके, उसकी पुष्टि कर सकें, उसे उचित ठहरा सकें।

अब प्रश्न उठता है कि वह कौन सा साधन–स्त्रोत या शक्ति है जिसके बल पर विदेशी औपनिवेशक शक्तियां या भारतीय वर्ण व्यवस्थावादी शक्तियां अपने वर्चस्व को बनाए रखती है और असमानता एवं शोषण का सृजन करती है। मा0 प्रफुल कालख्यान का मत इस संबंध में महत्वपूर्ण है। वे 'दलित राजनीति की समस्याएँ' नाम एक लेख में स्पष्ट करते हैं कि पूंजीवाद का जन्म अतिरिक्त धन के सम्यक वितरण में असंतुलन से होता है और यह असंतुलन अन्ततः सामाजिक ''विषमता में परिणत होता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में धन की अतिरिक्तता के जमाव का मुख्य रूप से हिन्दू धर्म के ब्राम्हणवादी गर्भ से निकले जातिवाद की सामाजिक पदानुक्रमता से और इसीलिए सामाजिक विषमता से गहरा रिष्ता है''। इस

प्रकार हम कह सकते हैं कि विषमताओं को प्रोत्साहन पूंजीवाद से तो मिलता ही है भारतीय संदर्भ में यह प्रोत्साहन ब्राम्हणवाद से व्युत्पन्न जातिवाद से भी मिलता है, इसलिए 'दलित विमर्श' को इनदोनों से संघर्ष करना पड़ता है। क्योंकि पूंजीवाद और ब्राम्हणवाद दोनों विचारधाराएँ असमानता एवं शोषण को जन्म देती है।

माननीय प्रफुल्ल कोलख्यान के अनुसार ''पूँजीवाद अपने मूल चरित्र में ही सामाजिक विषमताओं को बढ़ावा देने वाला होता है, इसलिए ऐसी कोई भी सिद्धांतिकी जो सामाजिक विषमताओं को किसी भी रूप में बढ़ावा देती है, उसकी मित्र सिद्धान्तिकी होती है, स्वाभाविक ही है कि पूंजीवाद की सिद्धान्तिकी होती ही है, स्वाभाविक ही है कि पूंजीवाद की सिद्धान्तिकी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 'धर्म' की और राष्ट्रीय स्तर पर 'हिन्दुत्व' की सिद्धान्तिकी से अपना गठबन्धन करती है इस गठबंधन को 'धर्म' और 'बाजार' के संश्रय में पढ़ा जा सकता है।

विमर्श (Discourse) के बारे में यह पहले से विदित है कि किसी भी प्रकार का विमर्श या तो स्थापित–शक्ति–संतुलन अथवा सत्ता संतुलन ो विचलित करता है या उसे मजबूत और दृढ़ बनाता है। इस संदर्भ में यदि हम दलित विमर्श पर नजर डालें तो वह स्थापित वर्णव्यवस्थावादी–जातिवादी समाव्यवस्था पर आधारित 'सत्ता–संतुलन' को विचलित करने और समता, स्वतंत्रता एवं बन्धुत्व पर आधारित वर्ण विहीन, जातिविहीन, शोषणविहीन समाज–व्यवस्था को दृढ़ बनाने के लिए प्रयोग में लाया गया है।

दलित 'विमर्श' ने सबसे पहले शोषण एवं असमानता की विचारधारा ब्रम्हवाद को परिभाषित किया। डॉ0 अम्बेडकर के अनुसार ''ब्राम्हणवाद'' से मेरा आशय समता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व की भावनाओं के निषेध से है यद्यपि ब्राम्हण इसके जनक हैं लेकिन यह ब्राम्हणों तक ही सीमित नहीं होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है। इस विमर्श के अनुसार केवल ब्राम्हण की नहीं किसी भी जाति या वर्ग को व्यक्ति ब्राम्हणवाद की भावना से ग्रसित हो सकता है। दलित विमर्श इस प्रकार की भावना का निषेध करता है। दलित विमर्श इस प्रकार की भावना का निषेध करता है। मा0 ओम प्रकाश बाल्मीकि के अनुसार दलित विमर्श ''ब्राम्हणवादी वर्चस्व को स्वीकार नहं करता। वर्णव्यवस्था को राष्ट्रीय हित में खतरनाक की पक्षधर देखना चाहता है, सामाजिक भेदभाव विषमताओं का समूल नानश, भाई–चारा, जाति विहीन समाज के लिए सतत् प्रयास करना उसकी मूलभूत आवष्यकताएँ है। मानवमुक्ति, स्वतंत्रता उसकी प्राथमिकता है।

दलित विमर्श समता स्वतंत्रता और बंधुत्व का निषेध करने वाली हर विचारधारा को अनुचित मानता है। वैष्विक संदर्भों में पूँजीवाद और भारतीय संदर्भों में 'ब्राम्हणवाद' असमानता को जन्म देने वाली व्यवस्थाएं है। डॉ0 अम्बेडकर के अनुसार 'मेरे विचार से इस देश के दो दुष्मनों से कामगारों को निपटना होगा, ये दो दुष्मन हैं– 'ब्राम्हणवाद और पूँजीवाद'। इस प्रकार दलित विमर्श राष्ट्रीय हित में पूंजीवाद और ब्राम्हणवाद इन दोनों को खतरनाक मानता है।

'दलित विमर्श' अपने आरम्भ से ही 'स्त्री–विमर्श' का सहयोगी है, क्योंकि इन दोनों प्रकार के विमर्शों ने परम्परा से चले आ रहे शोषण युक्त–वर्चस्ववादी व्यवस्था के विरूद्ध अपनी लेखनी द्वारा अपनी पहचान बनायी है, जिसके कारण वे दोनों एक दूसरे के निकट है। मा0 रमेश उपाध्याय अपने एक लेख मुक्ति का सवाल कहाँ गया' में दलित और स्त्री–विमर्श की समानता को दृष्टिगत करते हुए लिखते हैं कि ''स्त्रियों और शूद्रों को लगभग समान समझा जाता रहा है। अतः दोनों की मुक्ति उस ब्राम्हणवाद को उखाड़ फेंकने में है जो पितृसत्ता के जरिये स्त्रियों को तथा वर्ण–व्यवस्था के जरिए

दलितों को दासता की सी स्थिति में रखकर उनके शोषण दमन, उत्पीड़न और अपमान को जारी रखने की विचारधारा है।

इस मान्यता के पीछे तक यह था कि समाज में दोनों की स्थिति उनके जन्म से निर्धारित होती हैं और स्त्रियों को स्त्री होने के कारण पुरूषों से तथा दलितों को दलित होने के कारण सवर्णों से नीचा मानते हुए शोषित उत्पीड़ित अपमानित किया जाता है।

स्त्री–विमर्श की सबसे बड़ी कमजोरी पष्चिमी देशों एवं दुनियां के अन्य देशों में यह रही है कि उच्च वर्ग और खाते–पीते घरों की स्त्रियों का यह आन्दोलन कहीं एक प्रदर्शन की वस्तु बनकर न रह जाय क्योंकि इसके माध्यम से 'मुक्त–यौनाचार' को हवा मिलने की संभावनाएँ है, दलित विमर्श इस प्रकार से स्त्री–विमर्श का विरोध करता है और सहयोगी होने के कारण यह मांग करता है और सहयोगी होने के कारण यह मांग करता है कि इसमें निम्न, दलित, गरीब वर्ग की स्त्रियों को भी शामिल किया जाय।

क्योंकि उनकी समस्या स्त्री–पुरूष समता की उतनी नहीं है जितनी सामाजिक एवं आर्थिक समता की है। उपर्युक्त विष्लेषण एवं विवेचन के बाद 'दलित विमर्श' का जो स्वरूप उभरकर सामने आया है उसे हम निम्न सात बिन्दुओं के तहत रख सकत हैं–

1. दलित विमर्श स्थापित वर्णव्यवस्थावादी–जातिवादी समाजव्यवस्था पर आधारित सत्ता–संतुलन को विचलित करने और 'समता–संतुलन को विचलित करने और 'समता–स्वतंत्रता–बंधुत्व' पर आधारित वर्ण–विहीन, जाति–विहीन, शोषण–विहीन, समाजव्यवस्था को दृढ़ बनाने के लिए प्रयोग मे लाया गया हैं।
2. दलित विमर्श 'समता–स्वतंत्रता–बंधुत्व' का निषेद्ध करने वाली हर विचारधारा को अनुचित मानता है। वैष्विक संदर्भो में पूंजीवाद और भारतीय संदर्भों में ब्राम्हणवाद इन दोनों को खतरनाक मानता है।
3. 'दलित–विमर्श' अपने आरम्भ से ही 'स्त्री–विमर्श' का सहयोगी है क्योंकि इन दोनों प्रकार के विमर्शों ने परम्परा से चले आ रहे शोषण–युक्त वर्चस्ववादी व्यवस्था के विरूद्ध अपनी लेखनी द्वारा अपनी पहचान बनाई है।
4. दलित–विमर्श' अपने विचारधारा को संयुक्त रूप में 'अम्बेडकरवाद' कहता है। और प्रेरणास्त्रोत के रूप में, गौतम बुद्ध, 'कबीर–रैदास' फुले, अम्बेडकर पेरियार एवं नारायणगुरू के आन्दोलन को महत्वपूर्ण मानता है।
5. हिन्दी का दलित विमर्श मराठी के दलित विमर्श से ज्यादा प्रभावित है। हिन्दी के दलित विमर्श को देखने से पता चलता है कि उसके रचनाकार (ओम प्रकाश बाल्मीकि, डॉ0 धर्मवीर, मोहनदास नैमिशराय, जयप्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह बेचैन, तेज सिंह, कंवल भारती, माता प्रसाद, डॉ0 कालीचरन 'स्नेही' मुद्रराक्षस, सोहनपाल सुमनाक्षर डा0 एन सिंह आदि) मराठी के दया पवार, बाबूराव बागोल, नामदेव, ढसाल, शरण कुमार लिंवाले आदि की रचनाओं से अधिक प्रभावित है।
6. दलित विमर्श (Dalit Discourse) दलितों को शिक्षित बनाने संगठित होने और व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष करने पर जोर देता है।
7. 'दलित विमर्श' बुद्ध के अनीष्वरवाद, अनात्मवाद में विष्वास करता है तथा वैज्ञानिक दृष्टिबोध से युक्त है।

संदर्भ

1–प्रो0 सत्य प्रकाश मिश्र, विभागाध्यक्ष हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विष्वविद्यालय द्वारा दिये गये एक व्याख्यान (दिसम्बर–2003) से उद्धत।

2–चन्द्रभान प्रसाद– 'ऊर्जावान दलितों के नेतृत्व से ही नई ऊचाई संभव' दलित साहित्य विशेषांक, उत्तर प्रदेश, सितम्बर अक्टूबर–2002 पृ0–35

3–वही पृ0–35

4–ब्रजरंजन मणि–'श्रमणवादी परंपरा, मार्क्सवाद और फुले, हंस अगस्त–2002, पृ0–28

5–वही पृ0–29

6–वही पृ0–29

7–शिव कुमार मिश्र–'भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य–1999 'अभिव्यक्ति प्रकाशन–इलाहाबाद पृ0–40

8– ब्रजरंजन मणि–'श्रमणवादी परंपरा, मार्क्सवाद और फुले, हंस अगस्त–2002, पृ0–29

9–वही पृ0–29

10–वही पृ0–29

11–विवेकानन्द– 'कास्ट हैज केप्ट अस अलाइव एज अ नेशन' खण्ड–द्वितीय 1965, पृ0–489

12–ब्रजरंजन मणि– 'श्रमणवादी परंपरा, मार्क्सवाद और फुले' हंस अगस्त 2002 पृ0–29

13–प्रफुल्ल कोलख्यान– 'दलित राजनीति की समस्याएँ, सं0–राजकिशोर–2006 वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0–38

14–वही पृ0–29

15–गेल आम्वेट– 'आंबेदकर एण्ड आफ्टर दलित मूवमेंट इ इंडिया'–घनष्याम साहा, सेज पब्लिकेशन–2002

16–ओम प्रकाश बाल्मीकि– 'हिन्दी साहित्य की जड़ता को दलित विमर्श ने तोड़ा है आजकल दिसम्बर–2000, पृ0–11

17–रमेश उपाध्याय–'आज का स्त्री आन्दोलन'–2004 शब्द संधान प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0–67

Copyright © 2015, Dr.Yashvant Veeroday. This is an open access refereed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.